

# अहिंसा : एक तुलनात्मक अध्ययन

## जैनदर्शन में अहिंसा का स्थान

अहिंसा जैनदर्शन का प्राण है। जैनदर्शन में अहिंसा वह धुरी है जिस पर समग्र जैन आचार-विधि घूमती है। जैनागमों में अहिंसा भगवती है। उसकी विशिष्टता का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं— 'भयभीतों को जैसे शरण, पक्षियों को जैसे गगन, तृषितों को जैसे जल, भूखों को जैसे भोजन, समुद्र के मध्य जैसे जहाज, रोगियों को जैसे ओषधि और वन में जैसे सार्थवाह का साथ, आधारभूत है वैसे ही अहिंसा प्राणियों के लिए आधारभूत है। अहिंसा चर एवं अचर सभी प्राणियों का कल्याण करने वाली है।'¹ वही मात्र एक ऐसा शाश्वत धर्म है, जिसका जैन तीर्थंकर उपदेश करते हैं। आचारंगसूत्र में कहा गया है—भूत, भविष्य और वर्तमान के सभी अर्हत् यही उपदेश करते हैं कि सभी प्राणियों, सभी भूतों, सभी जीवों और सभी सत्वों को किसी प्रकार का परिताप, उद्वेग या दुःख नहीं देना चाहिए और न किसी का हनन करना चाहिए। यही शुद्ध नित्य और शाश्वत धर्म है, जिसका समस्त लोक के दुःख को जानकर अर्हत्तों के द्वारा प्रतिपादन किया गया है।² सूत्रकृतांगसूत्र के अनुसार ज्ञानी होने का सार यह है कि हिंसा न करें, अहिंसा ही समग्र धर्म का सार है, इसे सदैव स्मरण रखना चाहिए।³ दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि सभी प्राणियों के प्रति संयम में अहिंसा के सर्वश्रेष्ठ होने के कारण महावीर ने इसको 'प्रथम स्थान' पर कहा है।⁴ भक्तपरिज्ञा नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि अहिंसा के समान दूसरा धर्म नहीं है।⁵

आचार्य अमृतचन्द्र सूरि के अनुसार तो जैन आचार-विधि का सम्पूर्ण क्षेत्र अहिंसा से व्याप्त है, उसके बाहर उसमें कुछ है ही नहीं। सभी नैतिक नियम और मर्यादाएँ इसके अन्तर्गत हैं; आचार के नियमों के दूसरे रूप जैसे असत्यभाषण नहीं करना, चोरी नहीं करना आदि तो जनसाधारण को सुलभ रूप से समझाने के लिए भिन्न-भिन्न नामों से कहे जाते हैं। वस्तुतः वे सभी अहिंसा के ही विभिन्न पक्ष हैं।⁶ जैन आचार-दर्शन में अहिंसा वह आधार-वाक्य है जिससे आचार के सभी नियम निर्गमित होते हैं। भगवती-आराधना में कहा गया है कि अहिंसा सब आश्रमों का हृदय है, सब शास्त्रों का गर्भ (उत्पत्ति स्थान) है।⁷

## बौद्ध आचार-दर्शन में अहिंसा का स्थान

बौद्ध दर्शन के दस शीलों में अहिंसा का स्थान प्रथम है। चतुःशतक में कहा गया है— तथागत ने संक्षेप में केवल 'अहिंसा' इन अक्षरों में धर्म का वर्णन किया है।⁸ धम्मपद में बुद्ध ने हिंसा को अनार्य कर्म कहा है। वे कहते हैं जो प्राणियों की हिंसा करता है वह आर्य नहीं होता, सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा का पालन करने वाला ही आर्य कहा जाता है।⁹

बुद्ध हिंसा एवं युद्ध के नीतिशास्त्र के तीव्र विरोधी हैं, धम्मपद में कहा गया है कि विजय से वैर उत्पन्न होता है, पराजित दुःखी होता है जो जय पराजय को छोड़ चुका है उसे ही सुख है, उसे ही शांति है।¹⁰

अंगुत्तरनिकाय में बुद्ध इस बात को अधिक स्पष्ट कर देते हैं कि हिंसक व्यक्ति इसी जगत में नारकीय जीवन का सृजन कर लेता है जबकि अहिंसक व्यक्ति इसी जगत् में स्वर्गीय जीवन का सृजन कर लेता है। वे कहते हैं— 'भिक्षुओ, तीन धर्मों से युक्त प्राणी ऐसा होता है जैसे लाकर स्वर्ग में डाल दिया गया हो। कौन से तीन? 'स्वयं प्राणी-हिंसा से विरक्त रहता है, दूसरे को प्राणी-हिंसा की ओर नहीं घसीटता और प्राणी-हिंसा का समर्थन नहीं करता।'¹¹

महायान सम्प्रदाय में करुणा और मैत्री की भावना का जो चरम उत्कर्ष देखा जाता है, उसकी पृष्ठभूमि में यही अहिंसा का सिद्धान्त रहा हुआ है।

## हिन्दू दर्शन और गीता में अहिंसा का स्थान

गीता में अहिंसा का महत्त्व स्वीकृत करते हुए उसे भगवान् का ही भाव कहा गया है, उसको देवी-सम्पदा एवं सात्त्विक तप बताया है।¹² महाभारत में तो जैन विचारणा के समान ही अहिंसा में सभी धर्मों को अन्तर्भूत मान लिया गया है।¹³ मात्र यही नहीं उसमें भी धर्म के उपदेश का उद्देश्य प्राणियों को हिंसा से विरत करना माना गया है। 'अहिंसा ही धर्म का सार है' इसे स्पष्ट करते हुए महाभारत के लेखक का कथन है—'प्राणियों की हिंसा न हो इसलिए धर्म का उपदेश दिया गया है अतः जो अहिंसा से युक्त है वही धर्म है'¹⁴।

लेकिन यह प्रश्न हो सकता है कि गीता में तो बार-बार अर्जुन को युद्ध करने का निर्देश दिया गया है, उसका युद्ध से विमुख होना निन्दनीय एवं कायरतापूर्ण माना गया है। फिर गीता को अहिंसा की विचारणा की समर्थक कैसे माना जाए? इस सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से कुछ कहूँ; इसके पहले हमें गीता के व्याख्याकारों की दृष्टि से ही इसका समाधान पा लेने का प्रयास करना चाहिये। गीता के आद्य टीकाकार आचार्य शंकर 'युद्धस्व' (युद्धकर) शब्द की टीका में लिखते हैं कि यहाँ युद्ध की कर्तव्यता का विधान नहीं है।¹⁵ मात्र यही नहीं आचार्य गीता के 'आत्मोपम्येन सर्वत्र' के अधार पर गीता में अहिंसा के सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। 'जैसे मुझे सुख प्रिय है, वैसे ही सभी प्राणियों को सुख अनुकूल है और जैसे दुःख मुझे अप्रिय एवं प्रतिकूल है वैसे सब प्राणियों को भी दुःख अप्रिय व प्रतिकूल है। इस प्रकार जो सब प्राणियों में अपने समान ही सुख और दुःख को तुल्यभाव से अनुकूल और प्रतिकूल देखता है, किसी के भी प्रतिकूल आचरण नहीं करता वह अहिंसक है। ऐसा अहिंसक पुरुष पूर्णज्ञान

में स्थित है वह सब योगियों में परा उत्कृष्ट माना जाता है<sup>१९</sup>।

महात्मा गांधी भी गीता को अहिंसा की प्रतिपादक मानते हैं उनका कथन है “गीता की मुख्य शिक्षा हिंसा नहीं, अहिंसा है— हिंसा बिना क्रोध, आसक्ति एवं घृणा के नहीं होती और गीता हमें सत्व, रजस् और तमस् गुणों के रूप में घृणा, क्रोध आदि की अवस्थाओं से ऊपर उठने को कहती है फिर हिंसा कैसे हो सकती है<sup>२०</sup>। डा० राधाकृष्णन भी गीता को अहिंसा की प्रतिपादक मानते हैं, वे लिखते हैं “कृष्ण अर्जुन को युद्ध करने का परामर्श देते हैं, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वे युद्ध की वैधता का समर्थन कर रहे हैं। युद्ध तो एक ऐसा अवसर आ पड़ा है, जिसका उपयोग गुरु उस भावना की ओर संकेत करने के लिए करता है, जिस भावना के साथ सब कार्य, जिनमें युद्ध भी सम्मिलित है, किये जाने चाहिये। यहाँ हिंसा या अहिंसा का प्रश्न नहीं है, अपितु अपने उन मित्रों के विरुद्ध हिंसा के प्रयोग का प्रश्न है, जो अब शत्रु बन गये हैं। युद्ध के प्रति उसकी हिचक आध्यात्मिक विकास या सत्व गुण की प्रधानता का परिणाम नहीं है, अपितु अज्ञान और वासना की उपज है। अर्जुन इस बात को स्वीकार करता है कि वह दुर्बलता और अज्ञान के वशीभूत हो गया है। गीता हमारे सम्मुख जो आदर्श उपस्थित करती है, वह हिंसा का नहीं अपितु अहिंसा का है। कृष्ण अर्जुन को आवेश या दुर्भावना के बिना, राग और द्वेष के बिना युद्ध करने को कहता है और यदि हम अपने मन को ऐसी स्थिति में ले जा सकें, तो हिंसा असम्भव हो जाती है।<sup>२१</sup>”

इस प्रकार हम देखते हैं कि गीता भी अहिंसा की समर्थक है। मात्र अन्याय के प्रतिकार के लिए अद्वेष-बुद्धि पूर्वक विवशता में करना पड़े ऐसी हिंसा का जो समर्थन गीता में दिखाई पड़ता है उससे यह नहीं कहा जा सकता कि गीता हिंसा की समर्थक है। अपवाद के रूप में हिंसा का समर्थन नियम नहीं बन जाता। ऐसा समर्थन तो हमें जैनागमों में भी उपलब्ध हो जाता है।

### अहिंसा का आधार

अहिंसा की भावना के मूलाधार के सम्बन्ध में विचारकों में कुछ भ्रान्त-धारणाओं को प्रश्रय मिला है। अतः उन पर सम्यकरूपेण विचार कर लेना अवश्यक है। मैकेन्जी ने अपने ‘हिन्दू एथिक्स’ में इस भ्रान्त विचारणा को प्रस्तुत किया है कि अहिंसा के प्रत्यय का निर्माण भय के आधार पर हुआ है। वे लिखते हैं— असभ्य मनुष्य जीव के विभिन्न रूपों को भय की दृष्टि से देखते हैं और भय की यह धारणा ही अहिंसा का मूल है।<sup>२२</sup> लेकिन मैं समझता हूँ कोई भी प्रबुद्ध विचारक मैकेन्जी की इस धारणा से सहमत नहीं होगा। जैनागमों के आधार पर भी इस धारणा का निराकरण किया जा सकता है। अहिंसा का मूलाधार जीवन के प्रति सम्मान एवं समत्वभावना है। समत्वभाव से सहानुभूति, समानुभूति एवं आत्मीयता उत्पन्न होती है और इन्हीं से अहिंसा का विकास होता है। अहिंसा जीवन के प्रति भय से नहीं, जीवन के प्रति सम्मान से विकसित होती है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है— सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं, कोई मरना नहीं चाहता, अतः

निर्ग्रन्थ प्राणवध (हिंसा) का निषेध करते हैं।<sup>२०</sup> वस्तुतः प्राणियों के जीवित रहने का नैतिक अधिकार ही अहिंसा के कर्तव्य की स्थापना करता है। जीवन के अधिकार का सम्मान ही अहिंसा है। उत्तराध्ययन सूत्र में समत्व के आधार पर अहिंसा के सिद्धान्त की स्थापना करते हुए कहा गया है कि ‘भय और वैर से मुक्त साधक, जीवन के प्रति प्रेम रखने वाले सभी प्राणियों को सर्वत्र अपनी आत्मा के समान जानकर, उनकी कभी भी हिंसा न करें।<sup>२१</sup> यह मैकेन्जी की भय पर अधिष्ठित अहिंसा की धारणा का सचोट उत्तर है। जैन आगम आचारांगसूत्र में तो आत्मीयता की भावना के आधार पर ही अहिंसा सिद्धान्त की प्रस्तावना की गई है। जो लोक (अन्य जीव समूह) का अपलाप करता है वह स्वयं अपनी आत्मा का भी अपलाप करता है।<sup>२२</sup> इसी ग्रन्थ में आगे पूर्ण-आत्मीयता की भावना को परिपुष्ट करते हुए भगवान् महावीर कहते हैं—जिसे तू मारना चाहता है वह तू ही है, जिसे तू शासित करना चाहता है वह तू ही है और जिसे तू परिताप देना चाहता है वह भी तू ही है।<sup>२३</sup> भक्तपरिज्ञा से भी इसी कथन की पुष्टि होती है उसमें लिखा है—किसी भी अन्य प्राणी की हत्या वस्तुतः अपनी ही हत्या है और अन्य जीवों पर दया अपनी ही दया है।<sup>२४</sup>”

भगवान् बुद्ध ने भी अहिंसा के आधार के रूप में इसी ‘आत्मवत् सर्वभूतेषु’ की भावना को ग्रहण किया था। सुत्तनिपात में वे कहते हैं कि जैसा मैं हूँ वैसे ही ये सब प्राणी हैं, और जैसे ये सब प्राणी हैं वैसे ही मैं हूँ—इस प्रकार अपने समान सब प्राणियों को समझकर न स्वयं किसी का वध करे और न दूसरों से कराये।<sup>२५</sup>”

गीता में भी अहिंसा की भावना के आधार के रूप में ‘आत्मवत् सर्वभूतेषु’ की उदात्त धारणा ही है। यदि हम गीता को अद्वैतवाद की समर्थक माने तो अहिंसा के आधार की दृष्टि से जैन दर्शन और अद्वैतवाद में यह अन्तर हो सकता है कि जहाँ जैन परम्परा में सभी आत्माओं की तात्त्विक समानता के आधार पर अहिंसा की प्रतिष्ठा की गई है वहाँ अद्वैतवादी विचारणा में तात्त्विक अभेद के आधार पर अहिंसा की स्थापना की गई है। कोई भी सिद्धान्त हो, अहिंसा के उद्भव की दृष्टि से महत्व की बात यही है कि अन्य जीवों के साथ समानता या अभेद का वास्तविक संवेदन ही अहिंसा की भावना का मूल उद्गम है।<sup>२६</sup> जब व्यक्ति में इस संवेदनशीलता का सच्चे रूप में उदय हो जाता है, तो हिंसा का विचार असम्भव हो जाता है।

### जैनागमों में अहिंसा की व्यापकता

जैन विचारणा में अहिंसा का क्षेत्र कितना व्यापक है, इसका बोध हमें प्रश्नव्याकरणसूत्र से हो सकता है, जिसमें अहिंसा के निम्न साठ पर्यायवाची नाम दिये गये हैं—<sup>२७</sup> १. निर्वाण, २. निर्वृत्ति, ३. समाधि, ४. शान्ति, ५. कीर्ति, ६. कान्ति, ७. प्रेम ८. वैराग्य, ९. श्रुतांग, १०. तृप्ति, ११. दया, १२. विमुक्ति, १३. क्षान्ति, १४. सम्यक् आराधना, १५. महती, १६. बोधि, १७. बुद्धि, १८. धृति, १९. समृद्धि, २०. ऋद्धि, २१. वृद्धि, २२. स्थिति (धारक), २३. पुष्टि (पोषक), २४. नन्द (आनन्द) २५. भद्रा, २६. विशुद्धि,

२७. लब्धि, २८. विशेष दृष्टि, २९. कल्याण, ३०. मंगल, ३१. प्रमोद, ३२. विभूति, ३३. रक्षा, ३४. सिद्धावास, ३५. अनास्रव, ३६. कैवल्यस्थान, ३७. शिव, ३८. समिति, ३९. शील, ४०. संयम, ४१. शील-परिग्रह, ४२. संवर, ४३. गुप्ति, ४४. व्यवसाय, ४५. उत्सव, ४६. यज्ञ, ४७. आयतन, ४८. यतन, ४९. अप्रमाद, ५०. आश्वासन, ५१. विश्वास, ५२. अभय, ५३. सर्व अनाघात (किसी को न मारना) ५४. चोक्ष (स्वच्छ) ५५. पवित्र, ५६. शुचि, ५७. पूता, ५८. विमला, ५९. प्रभात और ६०. निर्मलतर।

इस प्रकार जैन आचार दर्शन में अहिंसा शब्द एक व्यापक दृष्टि को लेकर उपस्थित होता है, उसके अनुसार सभी सद्गुण अहिंसा के ही विभिन्न रूप हैं और अहिंसा ही एकमात्र सद्गुण है।

### अहिंसा क्या है?

हिंसा का प्रतिपक्ष अहिंसा है,<sup>२८</sup> यह अहिंसा की निषेधात्मक परिभाषा है। लेकिन मात्र हिंसा का छोड़ना अहिंसा नहीं है। निषेधात्मक अहिंसा जीवन के समग्र पक्षों का स्पर्श नहीं करती। वह एक आध्यात्मिक उपलब्धि नहीं कही जा सकती है। निषेधात्मक अहिंसा मात्र बाह्य बनकर रह जाती है, जबकि आध्यात्मिकता तो आन्तरिक होती है। हिंसा नहीं करना यह अहिंसा का शरीर हो सकता है अहिंसा की आत्मा नहीं। किसी को नहीं मारना, यह अहिंसा के सम्बन्ध में मात्र स्थूल दृष्टि है। लेकिन यह मानना भ्रान्तिपूर्ण होगा कि जैन विचारणा अहिंसा की इस स्थूल एवं बहिर्मुखी दृष्टि तक सीमित रही है। जैन आचार दर्शन का केन्द्रीय तत्त्व अहिंसा शाब्दिक रूप में यद्यपि नकारात्मक है, लेकिन उसकी अनुभूति नकारात्मक नहीं है। उसकी अनुभूति सदैव ही विधायक रही है। सर्व के प्रति आत्मभाव, करुणा और मैत्री की विधायक अनुभूतियों से ही अहिंसा की धारा प्रवाहित हुई है। हिंसा नहीं करना, यही मात्र अहिंसा नहीं है। अहिंसा क्रिया नहीं, सत्ता है, वह हमारी आत्मा की एक अवस्था है। आत्मा की प्रमत्त अवस्था ही हिंसा है और अप्रमत्त अवस्था ही अहिंसा है। आचार्य भद्रबाहु ओघनिर्युक्ति में लिखते हैं—पारमार्थिक दृष्टिकोण से आत्मा ही हिंसा है और आत्मा ही अहिंसा है; प्रमत्त आत्मा हिंसक है और अप्रमत्त आत्मा ही अहिंसा है।<sup>२९</sup>

### द्रव्य एवं भाव-हिंसा

अहिंसा को सम्यक् रूप से समझने के लिए पहले यह जान लेना आवश्यक है कि जैन विचारणा हिंसा के दो पक्षों पर विचार करती है, एक हिंसा का बाह्य पक्ष है, जिसे जैन पारिभाषिक शब्दावली में द्रव्य हिंसा कहा गया है। द्रव्य हिंसा के सम्बन्ध में एक स्थूल एवं बाह्य दृष्टिकोण है। यह एक क्रिया है जिसे प्राणातिपात, प्राणवध, प्राणहनन आदि नामों से जाना जाता है। जैन विचारणा आत्मा को अपेक्षाकृत रूप से नित्य मानती है। अतः हिंसा के द्वारा जिसका हनन होता है वह आत्मा नहीं, वरन् 'प्राण' है— प्राण जैविक शक्ति है। जैन विचारणा में प्राण दस माने गये हैं। पांच इन्द्रियों की पाँच शक्तियाँ,

मन, वाणी और शरीर इन का विविध बल तथा श्वसन-क्रिया एवं आयुष्य, ये दस प्राण हैं और इन प्राण-शक्तियों के वियोजीकरण को ही द्रव्य दृष्टि से हिंसा कहा जाता है।<sup>३०</sup> यह हिंसा की द्रव्य दृष्टि से की गई परिभाषा है। जो कि हिंसा के बाह्य पक्ष पर बल देती है।

भाव-हिंसा हिंसक विचार है, जबकि द्रव्य-हिंसा हिंसक-कर्म है। भाव-हिंसा मानसिक अवस्था है। आचार्य अमृतचन्द्र ने भावानात्मक पक्ष पर बल देते हुए हिंसा-अहिंसा की परिभाषा की है। उनका कथन है कि रागादि कषायों का अभाव अहिंसा है और उनका उत्पन्न होना हिंसा है।<sup>३१</sup> हिंसा की एक पूर्ण परिभाषा तत्त्वार्थ सूत्र में मिलती है। तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार राग, द्वेष, अविवेक आदि प्रमादों से युक्त होकर किया जाने वाला प्राण-वध हिंसा है।<sup>३२</sup>

### हिंसा के प्रकार

जैन विचारकों ने द्रव्य और भाव इन दो आधारों पर हिंसा के चार विभाग किये हैं—१. मात्र शारीरिक हिंसा २. मात्र वैचारिक हिंसा ३. शारीरिक एवं वैचारिक हिंसा और ४. शाब्दिक हिंसा। मात्र शारीरिक हिंसा—यह ऐसी द्रव्य हिंसा है, जिसमें हिंसक-क्रिया तो सम्पन्न हुई हो लेकिन हिंसा के विचार का अभाव हो। उदाहरणार्थ सावधानी पूर्वक चलते हुए भी दृष्टिदोष या सूक्ष्म जन्तु के नहीं दिखाई देने पर हिंसा हो जाना। मात्र वैचारिक हिंसा—यह भाव हिंसा है इसमें हिंसा की क्रिया तो अनुपस्थित होते हैं लेकिन हिंसा का संकल्प उपस्थित होता है। अर्थात् कर्ता हिंसा के संकल्प से युक्त होता है लेकिन बाह्य परिस्थिति वश उसे क्रियान्वित करने में सफल नहीं हो पाता है। जैसे कैदी का न्यायाधीश की हत्या करने का विचार (परम्परागत दृष्टि के अनुसार तंदुलमच्छ एवं कालकौसरिक कसाई के उदाहरण इसके लिए दिये जाते हैं)। वैचारिक एवं शारीरिक हिंसा—जिसमें हिंसा का विचार और हिंसा की क्रिया दोनों ही उपस्थित हों जैसे संकल्प पूर्वक की गई हत्या। शाब्दिक हिंसा—जिसमें न तो हिंसा का विचार हो और न हिंसा की क्रिया, मात्र हिंसक शब्दों का उच्चारण हो, जैसे सुधार-भावना की दृष्टि से माता-पिता का बालकों पर या गुरु का शिष्य पर कृत्रिम रूप से कुपित होना।<sup>३३</sup> नैतिकता या बंधन की तीव्रता की दृष्टि से हिंसा के इन चार रूपों में क्रमशः शाब्दिक हिंसा की अपेक्षा संकल्परहित मात्र शारीरिक हिंसा, संकल्परहित शारीरिक हिंसा की अपेक्षा मात्र वैचारिक हिंसा और मात्र वैचारिक हिंसा की अपेक्षा संकल्प युक्त शारीरिक हिंसा अधिक निकृष्ट मानी गई है।

### हिंसा की विभिन्न स्थितियाँ

वस्तुतः हिंसा की तीन अवस्थाएँ हो सकती हैं— १. हिंसा की गई हो, २. हिंसा करना पड़ी हो और ३. हिंसा हो गई हो। पहली स्थिति में यदि हिंसा चेतन रूप से की गई हो तो वह संकल्प युक्त है और यदि अचेतन रूप से की गई हो तो वह प्रमाद युक्त है। हिंसक- क्रिया चाहे संकल्प से उत्पन्न हुई वहाँ या प्रमाद के कारण हुई हो कर्ता दोषी है। दूसरी स्थिति में हिंसा चेतन रूप से किन्तु

विवशता वश करनी पड़ती है, यह बाध्यता शारीरिक हो सकती है अथवा बाह्य परिस्थितिजन्य, यहां भी कर्ता दोषी है, कर्म का बंधन भी होता है लेकिन पाश्चात्ताप या ग्लानि के द्वारा वह उससे शुद्ध हो जाता है। बाध्यता की अवस्था में की गई हिंसा के लिए कर्ता को दोषी मानने का आधार यह है कि समग्र बाध्यताएं स्वयं के द्वारा आरोपित हैं। बाध्यता के लिए कर्ता स्वयं उत्तरदायी है। बाध्यताओं की स्वीकृति कायरता एवं शरीर-मोह की प्रतीक है। बंधन में होना और बंधन को मानना यह दोनों ही कर्ता की विकृतियाँ हैं और जब तक ये विकृतियाँ हैं कर्ता स्वयं दोषी है ही। तीसरी स्थिति में हिंसा न तो प्रमाद के कारण होती है और न विवशता वश ही, वरन् सम्पूर्ण सावधानी के बावजूद भी हो जाती है। जैन विचारणा के अनुसार हिंसा की यह तीसरी स्थिति कर्ता की दृष्टि से निर्दोष मानी जा सकती है।

### हिंसा के विभिन्न रूप

हिंसक-कर्म की उपरोक्त तीन विभिन्न अवस्थाओं में यदि तीसरी हिंसा हो जाने की अवस्था को छोड़ दिया जावे तो हमारे समक्ष हिंसा के दो रूप बचते हैं। १. हिंसा की गई हो और २. हिंसा करनी पड़ी हो। वे दशाएं जिनमें हिंसा करना पड़ती है, दो प्रकार की हैं। १. रक्षणात्मक और २. आजीविकात्मक-जिसमें भी दो बातें सम्मिलित हैं जीवन जीने के साधनों का अर्जन और उनका उपभोग,

जैन आचार-दर्शन में इसी आधार पर हिंसा के चार वर्ग माने गये हैं—

१. संकल्पजा—संकल्प या विचार पूर्वक हिंसा करना। यह आक्रामणात्मक हिंसा है।

२. विरोधजा—स्वयं और दूसरे लोगों के जीवन एवं स्वत्वों (अधिकारों) के आरक्षण के लिए विवशता वश हिंसा करना। यह रक्षणात्मक हिंसा है।

३. उद्योगजा—आजीविका के उपार्जन अथवा उद्योग एवं व्यवसाय के निमित्त होने वाली हिंसा। यह उपार्जनात्मक हिंसा है।

४. आरम्भजा—जीवन-निर्वाह के निमित्त होने वाली हिंसा-जैसे भोजन के पकाने में। यह निर्वाहात्मक हिंसा है।

### हिंसा के कारण

जैन आचार्यों ने हिंसा के कारण माने हैं— १. राग, २. द्वेष, ३. कषाय और ४. प्रमाद।

### हिंसा के साधन

जहाँ तक हिंसा के मूल साधनों का प्रश्न है, वे तीन हैं—मन, वचन और शरीर। व्यक्ति सभी प्रकार की हिंसा इन्हीं तीन साधनों के द्वारा करते हैं।

### क्या पूर्ण अहिंसक होना संभव है?

जैन विचारणा के अनुसार न केवल पृथ्वी, पानी, वायु, अग्नि

एवं वनस्पति ही जीवनयुक्त हैं, वरन् समग्र लोक ही सूक्ष्म जीवों से भरा हुआ है। क्या ऐसी स्थिति में कोई व्यक्ति पूर्ण अहिंसक हो सकता है? महाभारत में भी जगत् को सूक्ष्म जीवों से व्याप्त मानकर यही प्रश्न उठाया गया है। जल में बहुतेरे जीव हैं, पृथ्वी पर तथा वृक्षों के फलों में भी अनेक जीव (प्राण) होते हैं। ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है जो इनमें से किसी को कभी नहीं मारता हो, पुनः कितने ही ऐसे सूक्ष्म प्राणी हैं जो इन्द्रियों से नहीं, मात्र अनुमान से ही जाने जाते हैं। मनुष्य के पलकों के गिरने मात्र से ही जिनके कंधे टूट जाते हैं अर्थात् मर जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जीवों की हिंसा से नहीं बचा जा सकता है।<sup>३४</sup> प्राचीन युग से ही जैन विचारकों की दृष्टि भी इस प्रश्न की ओर गई है। ओघनिर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु इस प्रश्न के सन्दर्भ में जैन दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं— जिनेश्वर भगवान् का कथन है कि अनेकानेक जीव समूहों से परिव्याप्त विश्व में साधक का अहिंसकत्व अन्तः में आध्यात्म-विशुद्धि की दृष्टि से ही है, बाह्य हिंसा या अहिंसा की दृष्टि से नहीं।<sup>३५</sup> जैन विचारणा के अनुसार भी बाह्य हिंसा से पूर्णतया बच पाना सम्भव नहीं। जब तक शरीर तथा शारीरिक क्रियायें हैं तब तक कोई भी व्यक्ति बाह्य दृष्टि से पूर्ण अहिंसक नहीं रह सकता।

### हिंसा, अहिंसा का सम्बन्ध व्यक्ति के अन्तःकरणसे है —

हिंसा और अहिंसा का प्रत्यय बाह्य घटनाओं पर उतना निर्भर नहीं है जितना वह साधक की आन्तरिक अवस्था पर आधारित है। हिंसा और अहिंसा के विवेक का आधार प्रमुख रूप से आन्तरिक है। हिंसा-विचार में संकल्प की प्रमुखता जैन आगमों में स्वीकार की गई है। भगवतीसूत्र में एक संवाद के द्वारा इसे स्पष्ट किया गया है। गणधर गौतम, महावीर से प्रश्न करते हैं— हे भगवन्! किसी श्रमणोपासक ने त्रस प्राणी के वध नहीं करने की प्रतिज्ञा ली हो लेकिन पृथ्वीकाय की हिंसा की प्रतिज्ञा नहीं ग्रहण की हो। यदि भूमि खोदते हुए उससे किसी प्राणी का वध हो जाए तो क्या उसकी प्रतिज्ञा भंग हुई? इस प्रश्न के उत्तर में महावीर कहते हैं कि यह मानना उचित नहीं है, उसकी प्रतिज्ञा भंग नहीं हुई है।<sup>३६</sup> इस प्रकार हम देखते हैं कि संकल्प की उपस्थिति अथवा साधक की मानसिक स्थिति ही हिंसा अहिंसा के विचार में प्रमुख तत्त्व है। परवर्ती जैन साहित्य में भी यह धारणा पुष्ट होती रही है। आचार्य भद्रबाहु का कथन है कि 'सावधानी पूर्वक चलने वाले साधु के पैर के नीचे भी कभी-कभी कीट, पतंग आदि क्षुद्र प्राणी आ जाते हैं और दबकर मर भी जाते हैं, लेकिन उक्त हिंसा के निमित्त से उसे सूक्ष्म कर्मबन्ध भी नहीं बताया गया है, क्योंकि वह अन्तः में सर्वतोभावेन उस हिंसा-व्यापार से निर्लिप्त होने के कारण निष्पाप है।<sup>३७</sup> जो विवेकवान्, अप्रमत्त साधक हृदय से निष्पाप है और आगमविधि के अनुसार आचरण करता है, उसके द्वारा हो जाने वाली हिंसा भी कर्म-निर्जरा का कारण है<sup>३८</sup> लेकिन जो प्रमत्त व्यक्ति है उसकी किसी भी चेष्टा से जो भी प्राणी मर जाते हैं वह निश्चित रूप से उन सबका हिंसक होता है। मात्र यही नहीं वरन् जो

प्राणी नहीं मारे गये हैं, प्रमत्त उनका भी हिंसक है क्योंकि वह अन्तर में सर्वतोभावेन पापात्मा है।<sup>१९</sup> इस प्रकार आचार्य का निष्कर्ष यही है कि केवल दृश्यमान् पाप रूप हिंसा से ही कोई हिंसक नहीं हो जाता।<sup>२०</sup>

आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार में लिखते हैं कि बाहर में प्राणी मरे या जीये अयताचारी-प्रमत्त को अन्दर में हिंसा निश्चित है। परन्तु जो अहिंसा की साधना के लिए प्रयत्नशील है, संयताचारी है उसको बाहर से होने वाली हिंसा से कर्म-बन्ध नहीं है।<sup>२१</sup> आचार्य अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं कि रागादि कषायों से मुक्त नियमपूर्वक आचारण करते हुए भी यदि प्राणाघात हो जावे तो वह हिंसा हिंसा नहीं है।<sup>२२</sup> निशीथ चूर्णि में भी कहा गया है कि प्राणातिपात (हिंसा) होने पर भी अप्रमत्त साधक अहिंसक है और प्राणातिपात न होने पर भी प्रमत्त व्यक्ति हिंसक है।<sup>२३</sup>

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन आचार्यों की दृष्टि में हिंसा अहिंसा का प्रश्न मुख्य रूप से आन्तरिक रहा है। जैन आचार्यों के

इस दृष्टिकोण के पीछे जो प्रमुख विचार है, वह यह है कि व्यवहारिक रूप में पूर्ण अहिंसा का पालन और जीवन में सद्गुण के विकास की दृष्टि से जीवन को बनाए रखने का प्रयास ये दो ऐसी स्थितियाँ हैं जिनको साथ-साथ चलाना संभव नहीं होता है, अतः जैन विचारकों को अन्त में यही स्वीकार करना पड़ा कि हिंसा अहिंसा का सम्बन्ध बाहरी घटनाओं की अपेक्षा आन्तरिक वृत्तियों से है।<sup>२४</sup>

इस दृष्टिकोण का समर्थन हमें गीता और धम्मपद में भी मिलता है। गीता कहती है—जो अहंकार की भावना से मुक्त है, जिसकी बुद्धि मलिन नहीं है, वह इन सब मनुष्यों को मारता हुआ भी मारता नहीं है और वह [ अपने कर्मों के कारण ] बन्धन में नहीं पड़ता।<sup>२५</sup>

धम्मपद में भी कहा गया है 'वीततृष्णा व्यक्ति ब्राह्मण माता-पिता को, दो क्षत्रिय राजाओं को एव प्रजा-सहित राष्ट्र को मार कर भी निष्पाप होकर जीता है क्योंकि वह पाप-पुण्य से ऊपर उठ जाता है'<sup>२६</sup>। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंसा और अहिंसा की विवेचना के मूल में प्रमाद या रागादि भाव ही प्रमुख तथ्य हैं।

### सन्दर्भ :

- अहिंसाए भगवतीए—एसा सा भगवती अहिंसा।—प्रश्नव्याकरणसूत्र २/१/२१-२२।
- जे अईया, जे य पडुप्पन्ना, जे आगमिस्सा अरहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णविति एवं परुविति-सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिधित्तव्वा; न परितावेयव्वा, न उद्वेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे, निइए, सासाए समिच्च लोये खेयण्णाहिं पवेइए।  
—आचारांग, (सं० आत्मारामजी, जैन स्थानक लुधियाना, १९६४) ४/१२७।
- एवं खु गाणिणो सारं जं ण हिंसइ किंचनं।  
अहिंसा समय चेव एतावंतं वियाणिया। —सूत्रकृताङ्ग १/४/१०
- तत्थिमं पद्धमं ठाणं महावीरेण देसियं।  
अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्वभूए सुसंजमो। —दशवैकालिक, ६/९।
- धम्ममहिंसा समं नत्थि। भक्तपरिज्ञा ९।
- अनुत्तवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय। पुरुषार्थसिद्धयुपाय ४२।
- सव्वेसिमासमाणं हिदयं गम्भो व सव्व सत्थाणं —भगवती आराधना, ९०
- धर्म समासतोऽहिंसा वर्णयन्ति तथागता —चतुःशतक
- न तेन अरिया होति येन पाणानि हिंसति।  
अहिंसा सव्वपाणानं, अरियो ति पवुच्चवति। —धम्मपद २७०
- जयवेरं पसवति दुःख सेति पराजितो  
उपसन्तो सुखं सेति जयपराजयो ॥ —धम्मपद २०१।
- अंगुतरनिकाय, तीसरा निपात १५३
- गीता १०/५-७, १६/२, ७/१४
- एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपिधीयते।  
—महाभारत, शान्तिपर्व, गीताप्रेस, गोरखपुर, २४५/१९
- अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।  
यः स्यादहिंसासम्पृक्तः स धर्म इति निश्चयः।  
—महाभारत, शान्तिपर्व १०९/१२।

१५. न हि अत्र युद्धः कर्तव्यो विधीयते। —गीता, शांकरभाष्य २/१८।
१६. गीता, शांकरभाष्य ६/३२
१७. दी भगवद्गीता एण्ड चेजिंग वर्ल्ड, पृष्ठ १२२
१८. भगवद्गीता-राधाकृष्णन्। —पृष्ठ ७४-७५
१९. Hidnu Ethics
२०. सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जउं  
तम्हा पाणिवहं घोरं निगंथा वज्जयंतिणं—दसवैकालिक ६/११
२१. अज्झत्थं सव्वओ सव्वं दिस्स पाणेपियायए।  
ण हणे पाणिणो पाणे भयवेराओ उवरए ॥ उत्तरा ६/७
२२. जे लोगं अब्भाइक्खति से अत्ताणं अब्भाइक्खति।  
—आचारांग १३/३।
२३. तुमंसि नाम तं चेव जं हन्तव्वं ति मन्नसि, तुमंसि नाम तं चेव जं अज्जावेयव्वति मन्नसि, तुमंसि नाम तं चेव जं परियावेयव्वति मन्नसि।  
—आचारांग १/५-४
२४. जीववहो अप्पवहो जीवदया अप्पणो दया होई। भक्तपरिज्ञा ९३
२५. यथा अहं तथा एते, यथा एते तथा अहं।  
अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये ॥  
—सुत्तनिपात ३/३७/२७
२६. दर्शन और चिन्तन, खण्ड २, पृष्ठ १२५।
२७. प्रश्नव्याकरणसूत्र, २/२१।
२८. हिंसाए पडिवक्खो होई अहिंसा —दशवैकालिक, निर्युक्ति ६०
२९. आया चेव अहिंसा आया हिंसति निच्छयो एसो।  
जो होइ अप्पमतो अहिंसओ इयो ॥ ओघनिर्युक्ति ७५४
३०. पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च उच्छ्वासनिश्वासमथान्यदायुः।  
प्राणाः दशैते भगवद्भिर्रुक्तास्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ॥  
— अभिधानराजेन्द्र, खण्ड ७, पृष्ठ १२२८।
३१. अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।  
तेषामेवोत्पत्ति हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥  
—पुरुषार्थसिद्धयुपाय, ४४

३२. प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा—तत्त्वार्थसूत्र ७/८
३३. अभिधानराजेन्द्र, खण्ड ७, पृष्ठ १२३१
३४. उदके बहवः प्राणाः पृथिव्यां च फलेषु च।  
न च कश्चिन्न तान् हन्ति किमन्यत् प्राणयापनात्॥  
सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित्।  
पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषां स्यात् स्कन्धपर्ययः॥  
— महाभारत शान्तिपर्व १५/२५-२६।
३५. अञ्जत्यथ विसोहीए जीविकाएहिं संथडे लोए।  
देसियमहिंसगंत जिणेहितिलोयदरिसीहिं। —ओघ निर्युक्ति, ७४७।
३६. समणोवागस्सणंभते। पुव्वामेव तस पाण समारम्भे पच्चखाए भवई,  
पुढवीं समारम्भे ण पच्चखाए भवई, से य पुढवि खणमाणे अण्णयरं  
तसपाणं विहिंसेज्जा सेणं भते तं वयं अतिचरित? नो इण्णडे समडे  
नो खलु से तस अइवायाए आउट्टुई। —भगवती ७/१
३७. उच्चालियंमि पाए, ईरियासमियस्स संकमट्टाए।  
वावज्जेज्ज कुलिंगी, मरिज्ज तं जोगमासज्ज।  
न य तस्स तत्रिमित्तो, बंधो सुहुमो वि देसिओ समए।  
अणावज्जो उ पओगेण, सव्वभावेण सो जम्हा॥  
—ओघनिर्युक्ति ७४८-४९
३८. जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स।  
सा होई निज्जरफला, अञ्जत्यविसोहिजुत्तस्स॥  
— ओघनिर्युक्ति ५५९।

३९. जे य पमतो पुरिसो, तस्स य जोग पडुच्च जे सत्ता।  
वावज्जंते नियमा, तेसिं सो हिंसओ होई॥  
जे वि न वावज्जंती, नियमा तेसिं पि हिंसओ सोउ।  
सावज्जो उ पओगेण, सव्वभावेण सो जम्हा॥  
—ओघनिर्युक्ति ७५२-५३।
४०. न य हिंसामेतेणं, सावज्जेणावि हिंसओ होई। —ओघनिर्युक्ति ७५८
४१. मरदु व जियदु व जीवो, अयदाचारस्सणिच्छिदा हिंसा।  
पयदस्स नत्थि बंधो हिंसामेतेण समिदस्स॥ —प्रवचनसार २१७
४२. युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावशमन्तरेणाऽपि।  
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव॥  
—पुरुषार्थसिद्धयुपाय ४५
४३. सति पाणातिवाए अप्पमतो अवहगो भवति।  
एवं असति पाणातिवाए पम्मत्ताए वहगो भवति॥  
—निशीथचूर्णि ९२।
४४. देखिए—दर्शन और चिन्तन, खण्ड २, पृष्ठ ४१४
४५. यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।  
हत्वापि स इमांल्लोकात्र हन्ति न निबध्यते॥ —गीता १८/१७
४६. मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च खत्तिये।  
रडं सानुचरं हन्त्वा अनिधो याति ब्राह्मणो। —धम्मपद २९४

## भगवान् महावीर का अपरिग्रह-सिद्धान्त और उसकी उपादेयता

### संग्रहवृत्ति का उद्भव एवं विकास

अपरिग्रह का प्रश्न सम्पत्ति के स्वामित्व से जुड़ा हुआ है और सम्पत्ति की अवधारणा का विकास मानव जाति के विकास का सहगामी है। मानव इस पृथ्वी पर कैसे और कब अस्तित्व में आया? यह प्रश्न आज भी वैज्ञानिकों के लिए एक गूढ़ पहली बना हुआ है। विकासवादी दार्शनिक मानव-सृष्टि को विकास की प्रक्रिया का ही एक अंग मानते हैं और अमीबा जैसे एक कोषीय प्राणी से प्राणियों की विभिन्न जातियों की विकास प्रक्रिया के माध्यम से मनुष्य की उत्पत्ति की व्याख्या करते हैं, जबकि जैन दर्शन सृष्टि को आरोह और अवरोह की एक सतत प्रक्रिया (कन्टीन्यूइंग प्रोसेस) बताता है और मानव जाति के अस्तित्व को भी इस आरोह और अवरोह-क्रम के सन्दर्भ में ही विवेचित करता है। फिर भी नृतत्वविज्ञान, विकासवादी दर्शन और जैन दर्शन इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि मानव की वर्तमान सभ्यता का विकास उसके प्राकृतिक जीवन से हुआ है। एक समय था जबकि मनुष्य विशुद्ध रूप से एक प्राकृतिक जीवन जीता था और प्रकृति भी इतनी समृद्ध थी कि उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए न तो कोई विशिष्ट श्रम करना होता था और न संग्रह ही। अतः उस युग में परिग्रह का

विचार ही उत्पन्न नहीं हुआ था क्योंकि उस युग में न तो सम्पत्ति ही थी और न उसके स्वामित्व का विचार ही था। मानव उदार प्रकृति की गोद में पलता और पोषित होता था। जैन परम्परा में इसे यौगलिक युग (अकर्म-युग) कहा जाता है। साम्यवादी विचारधारा की दृष्टि से यह प्रारम्भिक साम्यवाद (Primitive Socialism) की अवस्था थी। सामान्यतया इस युग में मानव की आकांक्षाएँ इतनी बड़ी-चढ़ी नहीं थीं, और एक दृष्टि से वह सुखी और सन्तुष्ट था।

किन्तु धीरे-धीरे एक ओर जनसंख्या बढ़ी तथा दूसरी ओर प्रकृति की समृद्धि कम होने लगी; अतः जीवन जीना जटिल होने लगा, यहीं से श्रम की उद्भावना हुई। जैन-परम्परा के अनुसार ऐसी अवस्था में सर्वप्रथम भगवान् ऋषभदेव ने मानव जाति को कृषि की शिक्षा दी। कृषि में जहाँ एक ओर मानव-श्रम लगने लगा वहीं दूसरी ओर उस श्रम के परिणाम स्वरूप उत्पन्न अन्न-सामग्री के संचयन और स्वामित्व का प्रश्न भी उठ खड़ा हुआ। वस्तुतः कृषि से उत्पन्न सामग्री ऐसी नहीं, जो वर्ष में हर समय सुलभ हो सके, केवल वर्षा पर आश्रित वह कृषि नियत समय पर ही अपनी उपज दे पाती थी और इसलिए सम्पूर्ण वर्ष भर के लिये अन्न का संचयन आवश्यक था। जीवन-रक्षण